द्वन्द्व और उनका निवारण

डा. रामनारायण एवं डा. रज्जन कुमार...
प्रवक्ता, पार्श्वनाथविद्यापीठ, वाराणसी.

द्वन्द्व मनुष्य की एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक समस्या है। मनुष्य को जीवन के प्रारंभ से ही द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है। द्वन्द्व उत्पन्न होने के कई कारण हैं जिनमें से एक कारण कुण्ठा भी है। कुण्ठा द्वन्द्व का रूप उस समय ले लेती है, जब व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों के बीच समायोजन का प्रयास करता है और उसमें वह सफल नहीं हो पाता है। मनुष्य की अनेक इच्छाएँ, आवश्यकताएँ तथा रुचियाँ होती हैं किन्तु यह जरूरी नहीं कि उसकी सभी इच्छाएँ व आवश्यकताएँ पूरी ही हो जाएँ। इन सबके कारण एक ऐसा वातावरण बन जाता है जिसकी परिधि में वह उलझ जाता है। वातावरण की इस परिधि में मनुष्य को कुछ विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ता है, जिसके कारण उसके मन में संघर्ष उत्पन्न होता है और यही संघर्ष द्वन्द्व का जनक बन जाता है।

संघर्ष के अनेक रूप हो सकते हैं- जैसे- एक व्यक्ति का दूसरे से संघर्ष, व्यक्ति का उसके वातावरण से संघर्ष, पारिवारिक संघर्ष, सांस्कृतिक संघर्ष, आदि। इन सबसे कहीं अधिक गम्भीर और भयानक है - आंतरिक संघर्ष। यह संघर्ष व्यक्ति के विचारों, संवेगों, इच्छाओं, भावनाओं, दृष्टिकोणों आदि में होता है।

संघर्ष का मुख्य आधार--उचित और अनुचित का विचार होता है।

द्वन्द्व की परिभाषा - द्वन्द्व, अन्तर्द्वन्द्व तथा कहीं-कहीं संघर्ष इन तीनों का English अनुवाद Cinflict है तथा Conflict शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के Conlictus शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है एक साथ टकराना। अतः द्वन्द्व का अर्थ एक ऐसी स्थिति से है, जिसमें दो आवेगों का एक समय पर ही पारस्परिक रूप से टकराव व संघर्ष होता है। या यों कहा जाय कि द्वन्द्व की अवस्था उस समय उत्पन्न होती है, जब पर्यावरण में आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक से अधिक लक्ष्य उपलब्ध होते हैं, परंतु चयन किसी एक ही का करना हो या एक ही लक्ष्य के प्रति व्यक्ति की आवृत्ति विधेयात्मक एवं निषेधात्मक दोनों प्रकार की होती है।

मार्क्स (१९७६) के शब्दों में द्वन्द्व को एक ऐसी परिस्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसमें परस्पर विरोधी प्रेरक सक्रिय होते हैं, जिसमें सभी की पूर्ति नहीं की जा सकती है।

लैजारस के शब्दों में-द्वन्द्व उस समय उत्पन्न होता है, जबकि एक व्यक्ति को दो असंगत अथवा पारस्परिक रूप से विरोधी आवश्यकताओं की पूर्ति को प्रायः एक ही समय पर पूरा करना होता है, अथवा जब विवश होकर एक आवश्यकता की पूर्ति करने पर दूसरी आवश्यकता की पूर्ति कर पाना असंभव ही हो जाता है।

द्वन्द्व का अर्थ है- विपरीत विचारों, इच्छाओं, उद्देश्यों का विरोध।

रच (१९६७) ने भी कहा है - "जब कोई व्यक्ति दो में से कोई लक्ष्य चुनने को बाध्य होता है या किसी एक लक्ष्य के प्रति विधेयात्मक या निषेधायात्मक भाव रखता है तो उसे द्वन्द्व-कुण्ठा का सामना करना पड़ता है।"

मानसिक द्वन्द्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए फ्रायड ने लिखा है कि 'इदम् अहम् और परम् अहम् के बीच सामंजस्य का अभाव होने से मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न होता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि द्वन्द्व का अनुभव व्यक्ति उस समय करता है, जब उसे दो वांछित लक्ष्यों में से किसी एक का चयन करना होता है, या किसी एक लक्ष्य के प्रति उसकी धारणा विधेयात्मक एवं निषेधात्मक दोनों तरह की होती है। इसके अतिरिक्त द्वन्द्व का अनुभव उन दशाओं में भी होता है, जिनमें लक्ष्य तक पहुँचने के लिए दो मार्ग उपलब्ध हैं, परंतु व्यक्ति यह तय नहीं कर पाता है कि किस मार्ग का चयन किया जाय या उपलब्ध लक्ष्यों में से सभी निषेधात्मक है, परंतु किसी एक का चयन करना ही है।

द्वन्द्व का वर्गीकरण

द्वन्द्वों का वर्गीकरण उनके स्रोतों व चेतन तथा अचेतन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपों के आधार पर निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है--

(क) स्त्रोतों (Sources) के आधार पर वर्गीकरण -

(i) आंतरिक आवश्यकताओं तथा बाह्य प्रतिरोधों में द्वन्द्व।

(ii) दो बाह्य आग्रहों के परस्पर विरोध से द्वन्द्व।

(iii) दो आंतरिक आवश्यकताओं के परस्पर विरोध से द्वन्द्व।

(ख) चेतन के आधार पर वर्गीकरण -

(i) उपागम-उपागम द्वन्द्व (Approach-Approach Conflict)

(ii) परिहार-परिहार द्वन्द्व (Avoidance-Avoidance Conflict)

(iii) उपागम-परिहार द्वन्द्व (Approach-Avoidance Conflict)

(iii) दो हरा उपागम - परिहार द्वन्द्व (Double Approach Avoidence Conflict)

(ग) अचेतन के आधार पर वर्गीकरण-

(i) इदम् तथा अहम् के द्वन्द्व (Conflict between Id and Ego)

(ii) अहम् तथा पराहम् के द्वन्द्व (Conflict between Ego and super Ego)

(iii) इदम् तथा पराहम् के द्वन्द्व (Conflict between Id and super Ego)

द्वन्द्वों के इन विभिन्न रूपों में कठोर आधार पर मौलिक अंतर नहीं होता है, बल्कि इनमें पर्याप्त मात्रा में पारस्परिक रूप से Overlapping ही रहता है। द्वन्द्वों के इन विभिन्न रूपों के विधिवत् वर्णन करने से पहले यहाँ पर द्वन्द्व के स्त्रोतों का विवेचन करना अति आवश्यक प्रतीत होता है।

द्वन्द्व के विभिन्न स्त्रोत - व्यक्ति में प्रायः द्वन्द्वों के मुख्य स्त्रोत निम्नलिखित ढंग से होते हैं

(i) आंतरिक आवश्यकताओं तथा बाह्य प्रतिरोधों में टकराव से उत्पन्न द्वन्द्व - व्यक्ति अपनी विभिन्न जैविक आवश्यकताओं व आवेगों की पूर्ति अपने बाह्य पर्यावरण के अंतर्गत ही करता है, परंतु बाह्य पर्यावरण के इस संबंध में अनेक प्रतिरोध अधिकांशतः भौतिक अवरोधों, सामाजिक परंपराओं तथा सांस्कृतिक मूल्यों के रूप में होते हैं और वे व्यक्ति के आवेगों की पूर्ति तथा संतुष्टि गलत तरीकों से व्यक्त करने की अनुमति नहीं देते। उदाहरणार्थ परिवार में जब एक बड़ा बालक किसी दूसरे छोटे बालक से खिलौना छीन लेता है तब छोटे बालक को कभी-कभी एकदम क्रोध आ जाता है, और वह बड़े बालक से अपना खिलौना न मिलने पर उसको मारने व गाली देने लगता है परंतु तुरंत ही माता-पिता या घर-परिवार के अन्य व्यक्ति उसके ऐसे असभ्य व्यवहार अथवा क्रोध के आवेगों की गलत रूप से अभिव्यक्ति से मना करते हैं। इस प्रकार यहाँ बालक के लिए बाह्य प्रतिरोधों के कारण आंतरिक आवेगों की पूर्ति न होने पर द्वन्द्व उत्पन्न होता है। बालक के लिए आरंभिक जीवन में ऐसी अनेक स्थितियाँ आती हैं, परंतु धीरे-धीरे समय बीतने के साथ-साथ उनका रूप समाजीकृत होता चला जाता है तथा फिर उनमें प्रायः ऐसा तीव्र द्वन्द्व उत्पन्न नहीं होने पाता।

जैन-चिंतकों ने भी इस प्रकार के द्वन्द्व का उल्लेख किया है। उनका यह मानना है कि यह द्वन्द्व बाह्य एवं आंतरिक संवेगों में पारस्परिक संघर्षों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। उपासकदशांग में चुल्लशतक नामक गृहस्थ साधक इसी द्वन्द्व से पीड़ित व्यक्ति है। यद्यपि वह आत्मविकास की साधना में रत रहता है, लेकिन देव द्वारा बाह्य वस्तु (धन, सम्पत्ति आदि) के नष्ट करने की धमकी से वह भयभीत हो जाता है। इससे बचने हेतु वह देव को पकड़ना चाहता है और अपने व्रत को भंग कर लेता है। धन, सम्पत्ति आदि बाह्य साधन हैं जो व्यवहारिक रूप में मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। इच्छाएं बाह्य और आंतरिक दोनों होती है। यहाँ चुल्लशतक बाह्य वस्तु को बचाने के लिए आंतरिक उद्वेग से ग्रसित होकर देव को पकड़ना चाहता है क्योंकि उसके मन में यह भय बैठ जाता है कि धन-सम्पत्तिविहीन व्यक्ति शक्तिहीन होता है। शक्तिहीन होकर संघर्ष में जीना नहीं चाहता। उस समय वह सोचता है कि देव को वह पकड़ लेगा और अपने धन का अपहरण नहीं होने देगा। लेकिन वह इस मिथ्या माया से ठगा जाता है तब वह पुनः अपनी व्रताराधना में ठीक उसी तरह प्रवृत्त हो जाता है, जैसे कि परिपक्व बालक समाजगत समस्याओं को समझ लेने पर इस तरह के द्वन्द्व से बचने लगता है।

(ii) दो बाह्य आग्रहों के परस्पर विरोध से द्वन्द्व - समाज कभी-कभी व्यक्ति के सम्मुख परस्पर रूप से विरोधी भूमिकाएँ प्रस्तुत करता है, तथा उनका परिपालन करने के लिए भारी आग्रह करता है। उदाहरणार्थ, समाज के नैतिक व धार्मिक उपदेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति से संसार के अन्य समस्त व्यक्तियों के एक ही ईश्वर की संतान होने के नाते उनके प्रति एक ओर समानता का व्यवहार करने की अपेक्षा रखते हैं तथा दूसरी ओर ठीक इसके विपरीत, उससे अपने राष्ट्र, अपने धर्म, समाज व समूह को ही सर्वश्रेष्ठ मानने का भी आग्रह करते हैं। मूलरूप से ऐसी सामाजिक भूमिकाओं से व्यक्ति में द्वन्द्व उत्पन्न स्वाभाविक ही है। ऐसे ही समाज व्यक्ति को एक ओर सामाजिक अनुरूपता (Social Conformity) के व्यवहार के लिए पढ़ाता है तथा दूसरी ओर आर्थिक स्तर पर उसे व्यक्तिवाद (Individualism) की शिक्षा देता है तथा उसे घोर प्रतिस्पर्धा भी सिखाता है । इसी प्रकार कहा जा सकता है कि समाज व्यक्ति को एक ओर सहयोग तथा दूसरी ओर विरोध (प्रतिस्पर्धा) के परस्पर विरोधी आग्रहों से उन व्यक्तियों में द्वन्द्व की स्थितियाँ उत्पन्न करता है। आधुनिक युग में जिस तरह से सामाजिक परिवर्तन हो रहा है, उसमें ऐसे मूल्यों के द्वन्द्व (Conflict in Values) साधारणतः अत्यधिक देखने को मिलते हैं।

जैन-दर्शन में सभी जीवों को सैद्धांतिक रूप से समान समझा जाता है, परंतु व्यावहारिक स्तर पर इसमें भिन्नता भी देखी जाती है। यद्यपि यह भिन्नता सामाजिक स्तर पर ही परिलक्षित होती है, फिर भी यह द्वन्द्व की जनक तो है ही। वस्तुतः इस तरह के द्वन्द्व का उदाहरण जैन-चिंतन में नहीं मिलता है क्योंकि यहाँ सभी जीवों को निश्चयात्मक दृष्टि से समान माना गया है, लेकिन पर्यायदृष्टि से यहाँ जीवगत भेद दृष्टिगोचर होता है और इसका कारण जीव के कर्मों को मान लिया जाता है । अतः इस रूप में इसके कारण मनुष्य के मन में जो द्वन्द्व उत्पन्न होता है, वह दो बाह्य आग्रहों के परस्पर विरोध का ही परिणाम माना जा सकता है। यही कारण है कि जैनों में सभी दुःखों से मुक्ति के लिए मोक्ष पद को स्वीकार किया है, लेकिन इसकी प्राप्ति व्यक्तिगत साधना से ही संभव है।

(iii) दो आंतरिक आवश्यकताओं के परस्पर विरोध से द्वन्द्व-

व्यक्ति कभी-कभी परस्पर रूप से विरोधी अपनी ही आंतरिक आवश्यकताओं के द्वन्द्व के जाल में फँस जाता है। उदाहरणार्थ, जब एक विद्यार्थी परीक्षा में भी उच्च श्रेणी के अंक प्राप्त करना चाहता है व साथ ही साथ खेलकूद में भी अपनी प्रबल रुचि रखना चाहता है, तब ऐसी स्थिति में एक सामान्य विद्यार्थी के लिए ऐसी दो परस्पर रूप से विरोधी आवश्यकताओं से तीव्र द्वन्द्व उत्पन्न होता है, क्योंकि जब वह विद्यार्थी परीक्षा में उच्च अंक प्राप्त करने के लिए अधिक समय तक पढ़ना चाहता है, तब वह खेलकूद को अधिक समय नहीं दे सकता और यदि वह अधिक समय अपने खेल में देता है तब वह परीक्षा में उच्च अंक नहीं पा सकता। ठीक इसी प्रकार, जब एक विद्यार्थी रात में पढ़ना भी चाहे व साथ ही साथ शीघ्र ही सोने की भी उसकी इच्छा रहती हो, तब ऐसी स्थिति में उसमें दो आंतरिक इच्छाओं के परस्पर विरोध से द्वन्द्व उत्पन्न होना स्वाभाविक ही होता है।

यहाँ हम उपासकदशांग में वर्णित सुरादेव नामक गृहस्थ साधक का उदाहरण प्रस्तुत करके इस द्वन्द्व को स्पष्ट करना चाहेंगे। सुरादेव आध्यात्मिक साधना में रत है । उसकी आंतरिक इच्छा है कि वह शुद्ध और संयमपूर्ण जीवन जिए। इसके लिए साधनाक्रम में एक देव उसे यह धमकी देता है कि वह अपनी उग्र साधना से विरत हो जाए अन्यथा उसके शरीर में एक साथ १६ महारोग उत्पन्न कर देगा। जिसके कारण तीव्र वेदना के साथ उसकी मृत्यु हो जाएगी। सुरादेव देव की इस धमकी से भयभीत हो जाता है और इससे बचने के लिए उसे पकड़ना चाहता है और अपना व्रत भंग कर लेता है। सुरादेव की आंतरिक इच्छा है कि वह आध्यात्मिक शुद्धि प्राप्त करे साथ ही साथ उसका शरीर स्वस्थ रहे, लेकिन देव द्वारा उसके शरीर में सोलह महारोग एक साथ उत्पन्न करने की धमकी उसे उनके कारण उत्पन्न महावेदना का बोध कराती है। वह इस वेदना से बचना चाहता है। फलस्वरूप वह इसे उत्पन्न करने वाले प्रमुख कारण देव को पकड़ना चाहता है। अतः इसे दो आंतरिक इच्छाओं के परस्पर विरोध से उत्पन्न द्वन्द्व का उदाहरण माना जा सकता है।

चेतन स्तरीय द्वन्द्व - Lewin के अनुसार व्यक्ति के चेतन द्वन्द्व के भी प्रायः निम्नलिखित चार रूप होते हैं--

(i) उपागम-उपागम द्वन्द्व - ऐसे द्वन्द्व को आकर्षण-आकर्षण द्वन्द्व भी कहते हैं, इसके अंतर्गत व्यक्ति की दुविधा यह रहती है कि वह दो समान लक्ष्यों में से किस लक्ष्य को स्वीकार करे और किसे अस्वीकार करे, क्योंकि स्थिति ऐसी है कि वह उन दोनों में से केवल एक को स्वीकार कर सकता है तथा एक के स्वीकार करने पर यहाँ दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति स्वयं ही समाप्त हो जाती है। जैसे एक नवयुवती के सामने विवाह के लिए दो ऐसे उत्तम प्रस्ताव विचाराधीन होते हैं, जो कि सब दृष्टियों से एकदम आकर्षक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं, तब उसकी मानसिक उलझन यह होती है कि वह किसे स्वीकारे तथा किसे अस्वीकारे। उसकी वास्तविक मानसिक द्वन्द्व की ऐसी स्थिति को आरेख के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है -

उपागम - उपागम द्वन्द्व

सुंदर व आकर्षक युवक   सुंदर व आकर्षक युवक

तथा <——+++++++++——> नवयुवती ——+++++++++——> तथा

उपागम   उपागम

दिल्ली वि.वि. का प्रवक्ता   जवाहरलाल नेहरू वि.वि. का प्रवक्ता

इस आरेख में नवयुवती विवाह के लिए दोनों युवकों की ओर समान रूप से आकर्षित है, परंतु वह उनमें से केवल एक का ही चयन कर सकती है, वह किसे स्वीकार करे तथा किसे अस्वीकार करे, यही उस युवती का द्वन्द्व है। जिसे उपागम-उपागम द्वन्द्व कहा जा सकता है।

जैन-दर्शन में इस द्वन्द्व का चित्रण भावना अधिकार द्वारा समझाया जा सकता है। व्यक्ति के मन में उत्पन्न स्थायी मिथ्या संस्कारों के निर्माण करने की प्रक्रिया भावना कहलाती है इनकी कुल संख्या बारह है, जिनमें अन्यत्व भावना भी एक है जो व्यक्ति को अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता का अर्थ-बोध कराती है। मरणविभक्ति में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है-- हमारा यह शरीर भिन्न है, हमारे बंधु-बांधव भिन्न हैं। संसार के समस्त भौतिक पदार्थ उनके रिश्ते-नाते हमसे भिन्न हैं तथा हम (आत्मा) उन पदार्थों से भिन्न हैं (मरणविभक्ति, ५९०)। इस आध्यात्मिक चिंतन से किसी के मन में जो द्वन्द्व उत्पन्न होता है उसे निम्न आरेख द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है--

आध्यात्मिक मोह <--- माता ---> पुत्रमोह (इसी तरह के अन्य सांसारिक मोह)

इस आरेख में माता के समक्ष दो पक्ष हैं--पुत्रमोह तथा दूसरी तरफ अन्यत्व भावना के रूप में आध्यात्मिक मोह । वह दोनों प्रकार के मोह-बंधन को तोड़ नहीं पा रही है। इसके कारण उसके मन में जो द्वन्द्व उत्पन्न हो रहा है, वह उपाग-उपागम, द्वन्द्व का उदाहरण है।

(ii) परिहार-परिहार द्वन्द्व-कभी - कभी व्यक्ति ऐसी द्वन्द्व की स्थिति में फँस जाता है, जब व्यक्ति को दो निषेधात्मक लक्ष्यों में से किसी एक का चयन करना होता है, जबकि वह दोनों में से किसी को भी नहीं चाहता है। जैसे जब एक बीमार बालक से उसकी माँ कड़वी गोली लेने या फिर उसके स्थान पर इंजेक्शन लेने के लिए पूछती है, तब बालक स्वाभाविकतः इन दोनों कटु व कष्टकारक स्थितियों में से किसी एक को भी स्वीकार नहीं करना चाहता, परंतु साथ ही साथ उसका संकट यह भी है कि वह इस स्थिति से बच भी नहीं सकता। दाँत के दर्द से पीड़ित व्यक्ति के सम्मुख भी कभी-कभी ऐसे ही संकट की स्थिति उस समय आ जाती है, जब वह दाँत के डाक्टर के पास दाँत निकलवाने के भय से भी डरता है, तथा घर पर दाँत के दर्द को भी सहन नहीं कर पाता। ऐसे ही, पारिवारिक जीवन में जब एक युवक की माँ व उसकी पत्नी में घोर युद्ध छिड़ जाता है, तब उसके मन में यह द्वन्द्व उठ खड़ा होता है कि वह इन दोनों में से किसका पक्ष ले व किसका न ले। माँ का पक्ष लेने पर पत्नी के प्रकोप को भी वह भलीभांति जानता है और पत्नी का पक्ष लेकर वह माँ के कोमल हृदय को भी ठेस नहीं पहुँचाना चाहता। आरेख की सहायता से इस द्वन्द्व को स्पष्ट किया जा सकता है--

परिहार-परिहार द्वन्द्व

पत्नी के प्रकोप का भय <--------पति ----------> माँके भावों को ठेस का भय पहुँचने

परिहार   परिहार

उपर्युक्त आरेख के माध्यम से व्यक्ति के परिहार-परिहार द्वन्द्व को दर्शाया गया है। पारिवारिक कलह में माँ व पत्नी के बीच कलह की स्थिति यह है कि वह किसका पक्ष ले। अपनी माँ का पक्ष ले या पत्नी का। दोनों स्थितियों में से एक का पक्ष उसके लिए लेना खतरे की घंटी के बजने के ही समान है।

परिहार - परिहार द्वन्द्व की स्थिति में भी व्यक्ति के लिए अपने विवेक से तथा तर्क वितर्क के सहारे एक उपयुक्त निर्णय का समय पर लेना आवश्यक होता है। यहाँ व्यक्ति द्वारा कोई भी निर्णय न लेना भी एक प्रकार से उसका एक निर्णय ही होता है, परंतु एक निष्क्रिय निर्णय की अपेक्षा व्यक्ति का सक्रिय निर्णय अधिक उपयुक्त व उचित रहता है, क्योंकि इसमें उसके विवेक की शक्ति व मानसिक बल की शक्ति सम्मिलित रहती है।

जैन-चिंतन में मकरन्द-पुत्र जिन पालित और जिनरक्षित को परिहार-परिहार द्वन्द्व से ग्रसित माना जा सकता है। रत्नदेवी

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

के चक्रव्यूह में फँसे दोनों व्यक्तियों को शैलक यक्ष द्वारा मुक्ति दिलाने के लिए जो शर्त रखी गई थी, वही दोनों व्यक्तियों के मन में उत्पन्न इस द्वन्द्व का जनक माना गयी। यक्ष ने कहा मैं तुम दोनों को रत्नदेवी के चंगुल से मुक्त कर सकता हूँ। तुम दोनों मेरी पीठ पर बैठ जाना मैं वायु मार्ग से इस देवी की परिसीमा से तुम्हें बाहर कर दूँगा। परंतु तुम दोनों किसी भी स्थिति में पीछे मुड़कर नहीं देखोगे अगर ऐसा करोगे तो तुम्हें मैं अपने पीठ से नीचे गिरा दूँगा और तुम अपने प्राणों से हाथ धो बैठोगे। यक्ष ने यह भी कहा कि वह रत्नदेवी हम सबका पीछा करेगी और तुम दोनों को अपने मायाजाल में फँसाकर पुनः वापस बुलाने के सारे प्रयत्न भी करेगी। तुम्हें इनसे सावधान रहना होगा और पीछे मुड़कर नहीं देखना होगा। अन्यथा मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर पाऊँगा और तुम्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।

यक्ष उन दोनों को लेकर रत्नदेवी के सीमा क्षेत्र से बाहर जाने लगा। रत्नदेवी ने उनका पीछा किया। उन्हें बहुत सारे प्रलोभन दिए। जिनपालित शैलक यक्ष की चेतावनी को ध्यान में रखकर किसी प्रकार के द्वन्द्व का शिकार नहीं हुआ। परंतु जिनरक्षित द्वन्द्व का शिकार हुआ और अपने प्राणों से हाथ धो बैठा। यद्यपि जिनपालित ने अपने मन को द्वन्द्व से मुक्त रखने का प्रयत्न किया और सफल भी हुआ, लेकिन उसके मन में दो निषेधात्मक भाव उत्पन्न हुए।

१. प्राण जाने का भय, २. सुख-वैभव छूटने का भय।

सुख वैभव छूटने का दुःख <--- जिनरक्षित ---> प्राण जाने का भय

(iii) उपागम-परिहार द्वन्द्व - इस में व्यक्ति के सामने ऐसी स्थिति होती है जिसमें दो विरोधी तत्त्व एक साथ मिलकर उसके व्यवहार में द्वन्द्व उत्पन्न कते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति एक ही समय पर एक विषय अथवा व्यक्ति के प्रति आकर्षित होकर उसकी ओर बढ़ना भी चाहता है, परंतु साथ ही साथ उसकी ओर बढ़ने से उसे भय भी लगता है। जैसे जब एक व्यक्ति अपने Boss से अपनी वेतनवृद्धि या किसी अन्य अनुमति के लिए आता है, तब उसके मन में कभी-कभी यह संकोच भी होने लगता है कि कहीं उसका ँदे उसके इस क्रियाकलाप से गुस्सा न हो जाए और उसे प्राप्ति के स्थान पर उल्टे क्षति ही न हो जाए। ऐसे ही, जब एक पुराने मधुमेह के रोगी के सम्मुख स्वादिष्ट मिठाई जैसे जलेबी खाने को रख दी जाए, तब वह भी ऐसी ही दुविधा में पड़ जाता है, क्योंकि पुराना मधुमेह का रोगी होने के कारण जलेबी खाने से तुरंत उसका रोग और भी अधिक बढ़ जाता है और गरम-गरम जलेबी खाने को मन भी खूब ललचाता है।

इस प्रकार उपागम-परिहार द्वन्द्व की स्थिति व्यक्ति के लिए एक लक्ष्य की ओर बढ़ने तथा साथ ही साथ उससे बचने की भी रहती है तथा जैसे-जैसे व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे ही उसके द्वन्द्व का रूप उग्र होने लगता है अथवा ऐसी स्थिति में लक्ष्य की धनात्मक शक्ति व नकारात्मक शक्ति दोनों ही तीव्र हो जाती हैं और व्यक्ति एक ऐसे कुचक्र में फँस जाता है कि क्या करे और क्या न करे?

जैन-चिंतन में १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ के तीर्थंकर बनने के पूर्व की एक घटना को उपागम - परिहार द्वन्द्व के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है- (ज्ञाताधर्म- कथा, अष्टम अध्ययन) मल्लिनाथ के आकर्षक और चित्तभावन रूप पर मोहित होकर प्रतिबुद्धि चंद्रच्छाय, शंख, रुक्मि, अदनिशत्रु और जितशत्रु इन छह राजाओं ने कुंभराजा (मल्लिनाथ के पिता) से उसकी पुत्री का हाथ माँगा। कुंभ के इनकार करने पर छहों राजाओं ने सम्मिलित रूप से उसके राज्य पर आक्रमण करने का निर्णय लिया। इसकी जानकारी मल्लि राजकुमारी को भी हुई। मल्लिराजकुमारी भावी तीर्थंकर होने वाली थी। उसे जातिस्मरणादि का बोध था। वह अपने एवं उन छहों राजाओं के पूर्वभव एवं आगामी भव के परिणाम से अवगत थी। वह उन राजाओं को इसके संबंध में बताना चाहती थी। यह उसका उन छहों के प्रति आकर्षण था। लेकिन उसी क्षण उसके मन में यह भी था कि अगर वह ऐसा करती है तो राजागण उसके पिता के राज्य पर आक्रमण करेंगे और व्यापक नरसंहार हो सकता है। यह मल्लिकुमारी का उन छहों के प्रति विकर्षण भाव था। अतः मल्लिकुमारी के मन में एक ही क्षण में दो परस्पर विरोधी भाव उठ रहे थे-आकर्षण एवं विकर्षण (भय)। ये दोनों मिलकर उपागम यह मल्लिकुमारी का उन छहों के प्रति विकर्षण भाव था। परिहार द्वन्द्व उत्पन्न कर रहे थे।

(iv) दोहरा उपागम-परिहार द्वन्द्व - ऐसे द्वन्द्व की स्थिति में व्यक्ति ऐसी दुविधाओं में एक साथ पड़ जाता हैं कि उसे कुछ भी निश्चित रूप से करने में संतुष्टि के साथ - साथ असंतुष्टि भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिहार्य रूप से मिलती है। जब विद्यार्थी खेल भी दक्षता तथा अध्ययन में उच्च श्रेणी की सफलता चाहता है, तब उसका द्वि-स्तरीय संघर्ष यह रहता है कि खेल में दक्ष होने पर वह अपने कालेज में लोकप्रिय अवश्य होता है, परंतु साथ ही साथ खेल में अधिक समय देने पर उसके अध्ययन का बहुमूल्य समय नष्ट हो जाता है। दूसरी ओर जब वह शैक्षिक उपलब्धि चाहता है व इससे उसको माता-पिता का अनुमोदन प्राप्त होता है, उसकी कक्षा में प्रतिष्ठा बढ़ती है, परंतु केवल अध्ययन में ही व्यस्त रहने पर वह अपने मित्रों में अप्रिय बन जाता है। अत: ऐसे द्वन्द्व का समाधान करने के लिए उसे काफी सोच-समझकर विवेकपूर्ण निर्णय लेना होगा।

जैन ग्रंथ उपासकदशांग में चुल्लशतक नामक गृहस्थ साधक दोहरे उपागम-परिहार द्वन्द्व से पीड़ित व्यक्ति लगता है। (उपासकदशांग, पंचम अध्ययन)। एक तरफ वह उग्र साधना अपनी आध्यात्मिक उन्नति हेतु कर रहा है दूसरी तरफ वह लौकिक संपदा से भी मुक्त रहना चाहता है, क्योंकि यह कहा गया है कि इस संसार में धन या अर्थ वह परम साधन है, जो व्यक्ति को सब कुछ उपलब्ध करा सकता है। पारलौकिक या आध्यात्मिक चिंतन में इस सिद्धांत को महत्त्वहीन ही माना गया है। लेकिन आध्यात्मिक साधना में रत चुल्लशतक संभवत: इस बात को विस्मृत कर बैठा और द्वन्द्व का शिकार हो गया। जब देव उपसर्ग के रूप में उसे यह धमकी देने लगा कि मैं तुम्हारी सारी सम्पत्ति राजमार्गों पर बिखेर दूँगा तुम निर्धन एवं धनहीन हो जाओगे। तुम्हें महादरिद्रता का कष्ट भोगना पड़ेगा। चुल्लशतक यह कष्ट उठाना नहीं चाहता था, फलस्वरूप देव को उसने पकड़ना चाहा और अपने व्रत को खण्डित कर लिया।

अचेतन स्तरीय द्वन्द्व - व्यक्ति के अचेतन द्वन्द्व के निम्नलिखित तीन रूप होते हैं--

(i) इदम् तथा अहम् के द्वन्द्व - इदम् के आवेग अभिन्न रूप से सुखात्मक सिद्धान्त द्वारा संचालित होते रहते हैं, जबकि अहम् का संबंध जीवन की कठोर वास्तविकताओं से रहता है। अत: इदम् के आवेगों तथा अहम् के प्रतिरोधों में टकराव से द्वन्द्व उत्पन्न होना सहज रूप से ही समझा जा सकता है।

वस्तुत: व्यक्ति के अहम् का उद्गम व विकास इदम् के मुक्त आवेगों पर आवश्यक संयम व नियंत्रण स्थापित होने के पश्चात् ही सम्भव होता है। व्यक्ति का विकसित अहम् इस तथ्य का द्योतक होता है कि अब इदम् के आनन्दभोगी आवेगों का स्वरूप अधिकांशत: समाजीकृत अथवा सामाजिक मानकों व मूल्यों के अनुरूप संगठित हो गया है। परंतु यदि अहम् के विकास में कुछ निर्बलता रहती है, तब इससे यह भी स्पष्ट पता लगता है कि ऐसी स्थिति में व्यक्ति की इदम् की दमित इच्छाएँ अचेतन रूप से अनेक रूप धारण करके विविध मनोश्चनाओं व लक्षणों के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति के मार्गों की सतत् खोज कर रही हैं।

ऐसा माना गया है कि इदम् ही अहम् के रूप में विकसित होता है। अगर सामान्य ढंग से यह परिवर्तन होता रहे तो इसके कारण व्यक्ति के मन में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं बनता, लेकिन जब मूल्यबोध और नैतिकता की परिधि में आकर विचार करते हैं तो इदम् की कुछ अनुभूतियों को दबाना पड़ता है। वही दबी हुई इदम् की वृत्ति क्रियाशील होकर विविध प्रकार की विकृतियों को जन्म देती है यही द्वन्द्व भी उत्पन्न करती है। द्वन्द्व चलने, बात करने, सोचने आदि सभी क्रियाओं पर प्रभाव डालता है। जैन-चिंतकों ने भी इस तरह के द्वन्द्व के संबंध में विचार किया। उन्होंने भी मनुष्य की विभिन्न क्रियाओं का वर्णन करने का प्रयत्न किया और आचार पक्ष एवं नैतिक मान्यताओं की परिधि में ले आया। जैनग्रंथों में इस पर चिंतन करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति किस प्रकार गमन करे, किस प्रकार आसन ग्रहण करे, किस प्रकार शयन करे, कैसे आहार ले, किस प्रकार बोले ताकि अल्प पापकर्मों का बंधन हो। (दशवैकालिक, ४/७) यद्यपि जैनों ने पाप कर्मों का अल्प बंधन और क्रियाओं को नैतिकता की परिधि में लाकर इसे आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है, परंतु इसे इदम् तथा अहम् के संघर्षों का परिणाम माना जा सकता है। यह संघर्ष एक द्वन्द्व को उत्पन्न करता है जिसे मनोवैज्ञानिकों ने इदम् तथा अहम् का द्वन्द्व कहा है।

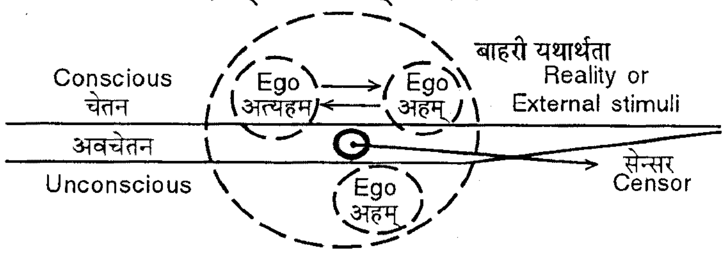

(ii) अहम् तथा पराहम् के द्वन्द्व - अहम् का संबंध एक ओर इदम् की आनन्द-योग इच्छाओं तथा दूसरी ओर पराहम् के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धार्मिक व नैतिक मानदण्डों से जुड़ा रहता है। अहम् की इन दोनों विपरीत व विरोधी व्यवहारों में समन्वय तथा तालमेल कभी-कभी इदम् की वासनापूर्ण इच्छाओं को भी दुरुत्साहित कर जाता है। इससे पराहम् व्यक्ति के अहम् को कचोटने लगता है। इससे ही व्यक्ति में अपराध-भावना, पाप-धारणा व प्रायश्चित की कटु वेदना होने लगती है। सामान्यत: अहम् अनेक अवसरों पर पराहम् की ऐसी साधारण कटु आलोचनाओं व संघर्षों की स्थिति को सहन भी कर जाता है, तथा ऐसे द्वन्द्व की व्यवहारिक जीवन में विशेष रूप से चिंता भी नहीं करता। परंतु ऐसे द्वन्द्वों का स्वरूप उस स्थिति में अति कष्टदायक हो जाता है, जबकि पराहम् का रूप अति विकसित हो जाता है। इससे अहम् की सुरक्षात्मक संरचना विघटित होकर टूटने लगती है, तथा व्यक्ति के व्यवहार में कभी-कभी अनेक मानसिक व संवेगात्मक विकृति के लक्षण भी दिखाई देने लगते हैं।

वस्तुत: ऐसे संघर्ष अथवा द्वन्द्व पराहम् के ही एक रूप अन्तरात्मा की कठोरता द्वारा प्रभावित होते हैं व कभी-कभी ऐसे गंभीर द्वन्द्व पराहम् के दोषपूर्ण अहम्-आदर्शों द्वारा निर्धारित होते हैं। ऐसे ही जब कभी व्यक्ति के अहम्-आदर्शों का रूप अलौकिक व अव्यवहारिक होता है, तब सामान्यत: ऐसे उच्च आदर्शों से व्यक्ति सदैव नीचे व पीछे ही रहता है। इस कारण व्यक्ति में निरंतर ऐसे अभाव के बने रहने से यह उसके अचेतन के द्वन्द्व का मुख्य कारण बन जाता है।

जैन-चिंतन में मेघमुनि का दृष्टान्त अहम् तथा पराहम् के संघर्ष के कारण उत्पन्न द्वन्द्व का जीवन्त चित्र प्रस्तुत करता है। सम्राट् मेघकुमार ने अपने समस्त वैभवों का परित्याग करके भगवान महावीर के सान्निध्य में मुनिधर्म को अंगीकार किया। रात्रि-विश्राम के समय श्रमण-परंपरा में ज्येष्ठानुक्रम में मुनियों के लिए छोटे-बड़े क्रम से संस्तारक बिछाने का विधान है। मेघमुनि उस समय सबसे कनिष्ठ थे। उन्हें बिस्तर विश्राम-स्थल के द्वार के पास मिल पाया। द्वार के पास मुनियों का आने-जाने का क्रम लगा रहा । इसी अनुक्रम में उनके शरीर पर दूसरे मुनियों के पाँव का आघात भी लगा। इस कारण उन्हें नींद नहीं आई। वे प्रतापी सम्राट् थे। एशोआराम में पले थे, इस तरह के कष्ट को सहन नहीं कर पाए। इन सबके कारण उनके अहम् को ठेस लगी। वे सोचने लगे मैंने अपने वैभव का त्याग क्या इस तरह के अपमान सहने के लिए किया है। मैं प्रात: वापस अपने राज्य लौट जाऊँगा। यह उनके अहम् की चेतना थी। उसी क्षण उनके मन में विचार आया कि संघ के प्रमुख आचार्य भगवान महावीर हैं, संघ से जाने के पहले मुझे उनसे इसकी अनुमति लेनी चाहिए। उनके मन में यह भावना पराहम् के कारण जागृत हुई। एक तरह कष्टों से ऊबकर उन्हें छोड़ने का भाव दूसरी तरफ प्रमुख से अनुमति लेकर जाना अनुशासन की मर्यादा बनाए रखने का द्योतक है। इसलिए इसे पराहम् का ही कार्य माना जा सकता है। अत: एक ही समय छोड़ना और पूछकर छोड़ने का जो भाव मेघमुनि के मन में उठता है, उसे अहम् और पराहम् के संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न द्वन्द्व ही कहा जा सकता है।

(iii) इदम् तथा पराहम् के द्वन्द्व - इदम् के वासनापूर्ण क्षणिक आवेगों तथा पराहम् के कठोर नैतिक आदर्शों में संघर्ष सहजरूप से ही बोधगम्य है। सामान्यत: व्यक्ति का सुसंगठित अहम् इन दोनों परस्पर विरोधी आग्रहों में समन्वय व तालमेल बैठाने में सफल रहता है, परंतु फिर भी व्यक्ति के व्यवहारिक व सामाजिक जीवन में ऐसे द्वन्द्वों का प्रक्रम नित चलता ही रहता है। ऐसे द्वन्द्वों से प्राय: तंत्रिका-तापी तथा मनोविकृति की स्थिति तब तक उत्पन्न नहीं होती, जब तक व्यक्ति का अहम् इन दोनों परस्पर रूप से विरोधी आग्रहों में संतुलन बनाए रखने में पर्याप्त रूप से शक्तिशाली रहता है। परंतु जब व्यक्ति के अहम् में इनके परस्पर विरोधी आग्रहों पर नियंत्रण व समन्वय करने में स्थायी शिथिलता आ जाती है, तब व्यक्ति में या तो इदम् के आवेग ही या फिर पराहम् के आदेश ही व्यक्तित्व का केन्द्रीय संचालक बन जाता है। उस स्थिति में व्यक्ति या तो इदम् के प्रभाव के कारण भोग-इच्छाओं में ही लिप्त हो जाता है, या फिर पराहम् के कठोर आदर्शों के आग्रहों के कारण अति धार्मिक व व्यवहारिक बन जाता है। सांसारिक तथा व्यवहारिक जीवन में ऐसी दोनों कठोर प्रवृत्तियाँ प्राय: कुसमायोजन की ही ओर उन्मुख रहती हैं। प्राय: द्वन्द्वों का ऐसा स्वरूप व्यक्तित्व के लिए विघटनकारी तथा क्षतिजनक ही होता है। सामान्य व्यक्ति में भी कुछ अचेतन द्वन्द्व रहते हैं, परंतु उनके रूप प्राय: कभी भी अहम् के सुरक्षात्मक संगठन का उल्लंघन नहीं करने पाते हैं।

जैनमत में इस द्वन्द्व को रथनेमि और राजीमति के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। जहाँ राजमति १६वें तीर्थंकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिष्टनेमि की होने वाली पत्नी थी, वहीं रथनेमि अरिष्टनेमि के भाई थे। अरिष्टनेमि के वैराग्य लेने के बाद राजीमति भी दीक्षित होकर रैवतक पर्वत पर आरूढ़ अरिष्टनेमि की वंदना करने जा रही थी। उसी पर्वत की एक गुफा में रथनेमि भी त्यागमय जीवन को अपनाकर तपाराधना में लीन था। वर्षा के कारण राजीमति को उसी गुफा में शरण लेनी पड़ी। परंतु इस बीच वह वर्षा से पूरी तरह भीग गई थी। उसने अपने गीले वस्त्रों को सुखाने के लिए उसे जमीन पर फैला दिया। इसी बीच साधनारत रथनेमि की दृष्टि राजीमति के वस्त्रहीन देह पर पड़ी। वह वासना के आवेग से भर गया और राजीमति की शरीर को पाने के लिए उससे अनुनय विनय करने लगा। राजीमति ने उसे ऐसा करने से रोका और उपदेश देकर उसे उसके लक्ष्य का ज्ञान कराया। राजीमति के उपदेश से वह वासनात्मक आवेग से मुक्त हुआ और अपने त्यागमय जीवन पर दृढ़ हो गया। यहाँ रथनेमि द्वारा राजीमति के शरीर को पाने की चाहत इदम् की आनंदात्मक अनुभूति को प्रकट करती है, दूसरी तरफ राजीमति के उपदेश द्वारा विवेक का जागरण पराहम् की भावना पर प्रकाश डालता है। रथनेमि के मन में उस समय जो द्वन्द्व उत्पन्न हुआ उसे इदम् तथा पराहम् के संघर्ष का परिणाम ही कहा जा सकता है जहां अहम् इन विरोधी भावों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है।

(A)

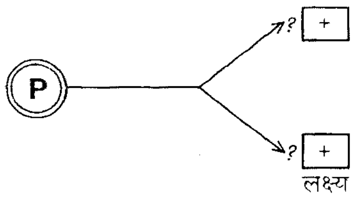

(B)

(C)

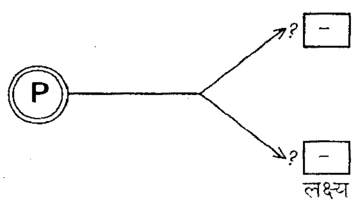

(C)

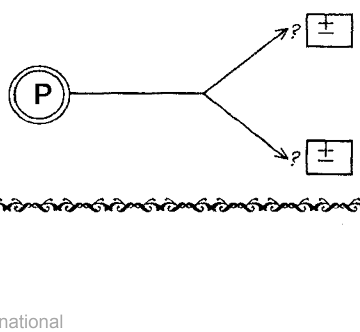

द्वन्द्वों का वर्गीकरण

(Lewin 1935 Ruch 1967 पर आधारित)

द्वन्द्व की प्रवणता (Gradients of Conflict)--अधिकांश द्वन्द्वों की उत्पत्ति ऐसे लक्ष्यों से होती है, जिनमें आकर्षण और विकर्षण दोनों पाए जाते हैं। जैसे किसी छात्र को मक्खन खाने का शौक है, परंतु मोटापे का भी भय है, किसी छात्र को पर्वतारोहण में रुचि है, परंतु दुर्घटना से डरता है या कोई बच्चा बत्तख को पकड़ने के लिए अग्रसर होना चाहता है, परंतु उसकी आवाज से डरता भी है। इन सभी परिस्थितियों में आकर्षणात्मक विकर्षण दोनों है। इन परिस्थितियाँ को उभय कर्षणात्मक (Ambivalent) परिस्थितियां कहते हैं। लक्ष्य-वस्तुओं से व्यक्ति की समझ से आकर्षण एवं विकर्षण की मात्रा जितनी होगी, उसी के अनुरूप व्यक्ति के व्यवहार में लक्ष्यों के प्रति उपागम या परिहार की तीव्रता भी होगी। उसे द्वन्द्व की प्रवणता या तीव्रता कहते हैं (Brown, १९४८) हिलगार्ड (१९७५) इत्यादि ने इस प्रसंग में निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किया है--

(i) यदि प्रयोज्य विधेयात्मक लक्ष्य (+ve) के समीप है तो उसे प्राप्त करने का प्रयास तीव्र हो जाएगा।

(ii) निषेधात्मक उद्दीपक (-ve) प्रयोज्य के जितना ही समीप होगा, वह उससे उतना ही दूर होना चाहेगा।

(iii) सामान्यतया विधेयात्मक उद्दीपक (+ve) की तुलना में निषेधात्मक उद्दीपक (-ve) से दूर होने की प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है।

जैनमत में द्वन्द्वप्रवणता-द्वन्द्वप्रवणता की अवधारणा जैन मत में निम्न रूपों में देखी जा सकती है--

(i) प्रयोज्य विधेयात्मक लक्ष्य के समीप रहने पर उसे प्राप्त करने का अधिक प्रयत्न करता है। यही प्रवणता चुल्लशतक में पाई जाती है। जब देव उसकी धन-सम्पत्ति को अपहरण करने की धमकी देता है तब वह (चुल्लशतक) उस देव को पकड़कर इस कार्य को होने ही नहीं देना चाहता है। यहाँ चुल्लशतक के समक्ष देव के रूप में लक्ष्य समीप था। उसने सोचा कि अगर मैं इसे पकड़ लेता हूं तो मेरे धन का अपहरण नहीं हो पाएगा क्योंकि इसे लेने वाला देव मेरी गिरफ्त में आ जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) निषेधात्मक उद्दीपक प्रयोज्य के जितना अधिक समीप होता है, वह उससे उतना ही अधिक दूर रहना चाहता है। यहाँ मकरंद-पुत्र जिनपालित को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उसके समक्ष मृत्यु के भय के रूप में निषेधात्मक लक्ष्य था- पीछे मुड़कर नहीं देखना। उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा और अपने प्राणों की रक्षा की। जबकि वह नित्य भोग विलासों में रत्नदेवी के साथ लिप्त रहा था, लेकिन यह भोग विलास भी अंततः उसकी मृत्यु का कारण बनता। इसलिए वह इनसे बचना चाहा तथा रत्नदेवी के लाख प्रलोभनों का भी उस पर प्रभाव नहीं पड़ा। क्योंकि उसके समक्ष मृत्यु के रूप में अत्यंत बलशाली निषेधात्मक लक्ष्य था, जिससे उसे बचना था।

(iii) मल्लिनाथ के उदाहरण में तृतीय निष्कर्ष को समझाया जा सकता है। स्वर्णमूर्ति के अंदर सड़े हुए अन्न की दुर्गंध एवं बिना दुर्गंध के स्वर्णमूर्ति का छहों राजाओं द्वारा जो अवलोकन किया गया, वह वस्तुतः विधेयात्मक उद्दीपक की तुलना में निषेधात्मक उद्दीपक से दूर होने की मनुष्य की प्रवृत्ति का सूचक है। प्रायः दुर्गंध से मनुष्य दूर भागता है, जबकि मनोरम एवं आकर्षक वस्तुएँ मनुष्य को लुभाती है और वह इनके पास आना चाहता है।

द्वन्द्व के निवारण - व्यक्ति को जीवन में अनेक प्रबल कुण्ठाओं, द्वन्द्वों तथा विभिन्न प्रतिबल स्थितियों का मुख्य रूप से सामना करना पड़ता है, तथा इनके प्रति यथासंभव समायोजन खोजने का भी प्रयास करना पड़ता है। व्यक्ति अपने तर्क व विवेक के आधार पर अपने द्वन्द्वों से उत्पन्न निराशाओं, विफलताओं व हीनताओं के दुष्प्रभाव को कम करने का चेतन रूप से भरसक प्रयास करता है, परंतु जब व्यक्ति इस प्रक्रम में असफल हो जाता है, तब व्यक्ति का अचेतन अति कुशलता के साथ उसके द्वन्द्वों के तनावों के दुष्प्रभावों तथा कटु अनुभवों का निवारण प्रायः विभिन्न मानसिक रचनाओं के माध्यम से सम्पन्न करता है। इन मानसिक रचनाओं का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति में द्वन्द्वों से उत्पन्न आंतरिक संवेगात्मक तनावों के प्रति विभिन्न युक्तियों के द्वारा व्यक्ति के आत्म-सम्मान तथा उसके अहम् की रक्षा करना होता है। इसी कारण मनोरचनाओं को रक्षायुक्तियों की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः व्यक्ति के समायोजन-प्रक्रम तथा उसके व्यक्तित्व के विकास में रक्षा-युक्तियों की अति महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावी भूमिका रहती है।

रक्षा-युक्तियों के महत्त्वपूर्ण कार्य--

सामान्य व्यक्ति के जीवन में समायोजन की दृष्टि से रक्षा युक्तियों का विशेष योगदान माना जाता है। इस संबंध में इसके महत्त्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं--

(१) रक्षायुक्तियों से व्यक्ति की समायोजन संबंधी आवश्यकता की सरलता पूर्वक संतुष्टि होती है।

(२) इनसे व्यक्ति में कुंठाजनित तनाव, निराशा व असफलता की प्रबलता तथा कटुता में विशेष रूप से कमी आती है।

(३) इनसे व्यक्ति के विघटन की प्रक्रिया की कारगर रूप से रोकथाम होती है।

(४) इनसे व्यक्ति में दुश्चिन्ता की मात्रा कम होती है।

(५) इनसे एक प्रकार से व्यक्ति के आत्म सम्मान की रक्षा होती है, तथा साथ ही साथ व्यक्ति के अहम् की संरचना की भी पर्याप्त सुरक्षा रहती है।

(६) इनसे व्यक्ति में द्वन्द्वों के प्रति सहनशीलता की शक्ति में वृद्धि होती है, क्योंकि रक्षा-युक्तियाँ, व्यक्ति तथा उसके द्वन्द्वों के मध्य में बफर का काम करती है तथा इस प्रकार व्यक्ति को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचने पाती है।

(७) इनकी समायोजी प्रक्रिया अप्रत्यक्षतः तथा अचेतन रूप से निर्धारित होती है, अतः व्यक्ति के लिए ऐसी क्रियाएँ एक प्रकार के प्रयास रहित रूप से स्वतः ही सम्पन्न होती रहती हैं।

(८) इनसे व्यक्तित्व की एकता व्यावहारिकता अखंडित अथवा समाकलित रहती है, तथा इनके कारण व्यक्तित्व की स्थाई संरचना के विघटित होने की आशंका प्रायः नहीं रहती।

(९) इनसे व्यक्ति के आत्म-सम्प्रत्यय पर भी प्रायः प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ने पाता।

(१०) इनके प्रभाव के कारण अधिकांशतः व्यक्तित्व के समायोजन तथा विकास की प्रक्रिया विशेष सीमाओं के अंतर्गत सहज रूप से ही सम्पन्न होती रहती है।

Jain Education International · For Private & Personal Use Only · www.jainelibrary.org

रक्षायुक्तियों के उपयोग की परिसीमाएँ--

इनके दो कारण हैं-

(१) प्रथम यह कि रक्षा-युक्तियों का स्वरूप अधिकांशतः अचेतन रूप से ही निर्धारित होता है। अतः स्वयं व्यक्ति को भी यह ज्ञात नहीं होने पाता कि वह इसके माध्यम से अपने किस द्वन्द्व व विफलता को छिपाने अथवा इनके उपयोग से वह अपने किस वेदनापूर्ण अनुभव के प्रभाव को कम कर रहा है।

(२) दूसरे यह कि जब व्यक्ति रक्षा-युक्तियों का उपयोग चेतन स्तर पर विस्तृत रूप से करने लगता है, तब स्वाभाविकतः इससे व्यक्ति के व्यवहार में अधिक कृत्रिमता आ जाती है, तथा व्यक्ति स्वयं अपने मिथ्या व्यवहार से आंतरिक रूप से आत्म-अवमूल्यन व कुछ स्थितियों में आत्म छल का अनुभव भी करने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति के चेतन रूप से रक्षा-युक्ति के उपयोग के प्रयास से समायोजन के स्थान पर उल्टे उससे कुसमायोजन ही उत्पन्न होता है।

संक्षेप में, रक्षा युक्तियों का समायोजी मूल्य व महत्त्व कुछ विशेष परिसीमाओं के अंतर्गत ही रहता है, इन सीमाओं के उल्लंघन होने पर व्यक्ति के व्यवहार में असामान्य व्यवहार के लक्षण निश्चित रूप से दिखाई देने लगते हैं।

द्वन्द्वों की समस्याओं से बचने के विभिन्न रूप--

समायोजन की समस्याओं से बचने के लिए व्यक्ति प्रत्यक्ष उपायों के अतिरिक्त मानसिक विरचनाओं का भी सहारा ले सकता है। इस अवधारणा का उपयोग फ्रायड ने उन अचेतन प्रक्रमों के लिए किया है जिनके द्वारा व्यक्ति चिंता आदि से बचने का प्रयास करता है। फ्रायड का विश्वास था कि अचेतन प्रक्रम संकट की वास्तविकता को न्यून कर देता है। और इनके परिणामस्वरूप समस्याओं के प्रति व्यक्ति की धारणा में अंतर आ जाता है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि संकट वास्तव में घट जाता है बल्कि व्यक्ति को उसके बारे में विभ्रम होने लगता है और समस्या की तीव्रता इस प्रकार मानसिक स्तर पर घट जाती है।

मानसिक विरचनाओं के कारण व्यक्ति समस्या की वास्तविकता को नजरअंदाज करने लगता है। ऐसा करने से उसका मानसिक दबाव कम हो जाता है। उदाहरणार्थ एक छोटे से बच्चे की माँ जो किसी खतरनाक रोग से पीड़ित है, यह दिखावा कर सकती है कि वह पीड़ित नहीं है, क्योंकि वास्तविकता को दिल से स्वीकार कर लेने पर अत्यधिक मानसिक कष्ट होगा। अतः वह वास्तविकता को नजरअंदाज करके प्रसन्नचित रहने का प्रयास कर सकती है। दैनिक जीवन में भी.देखने में आता है कि व्यक्ति अपने प्रति की गई आलोचनाओं को नजरअंदाज करता रहता है, क्योंकि उन पर ध्यान केन्द्रित करते रहने से व्यक्ति उलझनों से ग्रस्त हो सकता है। फ्रायड ने कहा है कि व्यक्ति असुखद अनुभवों का दमन कर देता है या उसे स्मृति से निकाल देने का प्रयास भी कर सकता है, ताकि उसका समायोजन बना रहे।

मानसिक विरचना अनेक प्रकार की हो सकती है, परंतु अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि किन्हें मुख्य और किन्हें गौण माना जाए। सामान्यतः व्यक्ति में निम्नलिखित मनोरचनाएँ अथवा रक्षा-युक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं जो निम्न हैं, जिनके द्वारा द्वन्द्व का समाधान हो सकता है।

१. दमन Repression -दमन से तात्पर्य चेतना में से किसी ऐसी इच्छा, विचार या अनुभव को निकाल देना है जो दुःखद या कष्टकर है। कोलमैन (१९७४) के कथनों के अनुसार किसी खतरनाक इच्छा या असहनीय स्मृति को चेतना से हटा देना ही दमन है। इसी कारण दमन को प्रेरित विस्मरण (Motivated forgetting) भी कहा जाता है। सामान्यतया समायोजन के लिए ऐसा करना लाभकारी होता है, परंतु सदैव ऐसा करना हानिकारक भी हो सकता है। फ्रायड के कहने के मुताबिक दमित इच्छाएँ अचेतन मन में पड़ी रहती हैं और अनुकूल अवसर मिलने पर चेतना में आने का प्रयास करती हैं। इनका प्रदर्शन स्वप्नों में प्रायः होता है।

दमन की मनोरचना का यहाँ अन्य समरूप मानसिक संरचनाओं से अंतर स्पष्ट करना अति आवश्यक है। ये संरचनाएँ निम्नांकित हैं--(i) निरोध तथा (ii) अवदमन।

(i) निरोध--इसके अंतर्गत व्यक्ति सोच-विचार के आधार पर एक विशेष क्रिया अथवा इच्छित अभिव्यक्ति से अपने आपको दूर रखता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) अवदमन--इसके अंतर्गत वह अपनी अनैतिक इच्छापूर्ति का चेतन स्तर पर विरोध करता है और उसे जान बूझकर अचेतन में धकेल देता है।

शैशवकालीन अवस्था में दमन-दमन का प्रक्रम मनुष्य में उसके शैशवकालीन जीवन से ही प्रारंभ हो जाता है। दमन के प्रक्रम के अंतर्गत ही शिशु अपनी अनेक शैशवकालीन घृणाओं, द्वन्दों व संघर्षों को ऐसे दमन के कारण भूल जाता है तथा इससे उसके आने वाले जीवन में समायोजन तथा विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। जिन शिशुओं में अहम् का संगठन अधिक प्रशस्त हो जाता है, उनके अचेतन दमन का प्रक्रम भी तदनुसार अधिक प्रबल ही ही रहता है और ऐसी स्थिति में व्यक्ति में दमित असामाजिक व अनैतिक इच्छाएँ भी व्यक्ति के चेतन स्तर पर नहीं आ पाती है। परंतु यदि व्यक्ति के अहम् का संगठन किसी कारण निर्बल रहता है, तब इससे ऐसी अनेक दमित इच्छाएँ व इदम् की वासनाएँ व्यक्ति के अहम् की सुरक्षा, संरचना के अवरोध को लाँघकर या फिर कुछ थोड़ा अपना रूप ही बदलकर चेतन स्तर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग विभिन्न लक्षणों के रूप में खोजने लगती हैं। इस प्रकार की स्थिति प्राय: तंत्रिकातापी तथा मनोविकृति व्यक्ति में ही देखने को मिलती है। अत: विभिन्न व्यक्तियों में अपने-अपने अहम् की संरचना के आधार पर दमन की मात्राएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। मानसिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्तियों में इसकी मात्रा प्राय: अधिक ही रहती है।

द्वन्द्व-निवारण हेतु जैन-परंपरा में मनोवैज्ञानिक प्रविधियों को दार्शनिक रूप से प्रस्तुत किया गया है। मनोवैज्ञानिकों ने जिस प्रकार दमन (Repression) की प्रक्रिया के आधार पर अवांछित इच्छाओं को चेतन स्तर से हटाकर अचेतन में दबाने की विधि को स्वीकार किया है, ठीक उसी तरह जीव के विविध भावों को व्यक्त करते हुए जैनों ने औपशमिक भाव पर प्रकाश डाला है(तत्त्वार्थसूत्र, २/१)। औपशमिक भाव उपशम से पैदा होता है। उपशम की इस क्रिया में जीव कर्मों से उसी प्रकार शुद्ध हो जाता है जैसे गंदा जल गंदगी के नीचे बैठ जाने से शुद्ध हो जाता है यद्यपि मात्र कर्म को ही जीव के भावों का जनक नहीं कहा जा सकता फिर भी इसे जीव को विकृत करने वाला एक सर्वप्रमुख कारण अवश्य कहा जा सकता है।

द्वन्द्व-निवारण में दमन के ही अंतर्गत निरोध की भी प्रक्रिया अपनाई जाती है। जैनों ने इस हेतु संवर का प्रयोग किया है। संवर कर्माश्रय को करने की एक प्रक्रिया है। निरोध में द्वन्द्व उत्पन्न करने वाली इच्छाओं पर रोक लगाई जाती है। जबकि संवर की प्रक्रिया में आत्मा की ओर आने वाले उन कर्म पुद्गलों को जो उन्हें विकृत कर सकते हैं, रोका जा सकता है। (तत्त्वार्थसूत्र, ९/१) यद्यपि यह एक आध्यात्मिक क्रिया है, लेकिन जैनों ने मानसिक, कायिक तथा वाचिक इन तीनों ही क्रियाओं को कर्मबंधन का कारण माना है,(तत्त्वार्थ सूत्र ६/१,२) जबकि मनोवैज्ञानिकों ने मुख्य रूप से द्वन्द्व के लिए मानसिक विचारों को ही मुख्य स्थान दिया है। जैनों के अनुसार मानसिक विचार भी कर्म की कोटि में आते हैं जो जीव आत्मा के शुद्ध स्वरूप को विकृत करते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार द्वन्द्व भी व्यक्ति की सामान्य प्रकृति को असामान्य बनाने की क्षमता रखता है, इसीलिए वे द्वन्द्व निवारण की बात करते हैं।

२. प्रक्षेपण(Projection) - यह एक ऐसी रक्षायुक्ति होती है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी कमजोरियों एवं दोषों को दूसरे पर आरोपित करता है, या दूसरों को माध्यम बनाता है। इस प्रक्रम के कारण व्यक्ति अपनी असफलता के लिए स्वयं को उत्तरदायी न मानकर दूसरों को जिम्मेदार ठहराता है (Page १९६२)। फ्रायड ने प्रक्षेपण को एक अचेतन प्रक्रिया बताया जबकि मार्क्स (१९७६) ने प्रक्षेपण को वास्तविकता को अस्वीकार करने का एक विशेष रूप कहा है। सीयर्स (१९३७) के भी अनुसार इस विरचना का प्रकार्य अपने दोषों को दूसरे पर आरोपित करना है। जैसे, परीक्षा में असफल होने पर छात्र अपने अध्यापकों या परीक्षकों को दोषी ठहराता है।

फ्रायड के कथानुसार प्रक्षेपण वह प्रक्रम है, जिसमें इद (Id) की इच्छापूर्ति में असफल होने पर अहम् (Ego) बाहरी कारणों को उत्तरदायी मानता है। क्योंकि यदि स्वयं को उत्तरदायी मान लिया जाए तो मानसिक तनाव अधिक उत्पन्न होगा। अन्य मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि प्रक्षेपण विरचना के परिणामस्वरूप व्यक्ति वास्तविकता से भागना चाहता है, इसी कारण वह अपनी असफलताओं के लिए दूसरों को दोषी ठहराता है (Kleinmuntz १९९६)।

३. प्रतिक्रिया संरचना-प्रतिक्रिया संरचना वह मानसिक विरचना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति किसी तीव्र प्रेरक या इच्छा को छिपाने के प्रयास में उसके विपरीत व्यवहार करता है (हिल गार्ड आदि १९७५)।

मनोविश्लेषणवादी विचारधारा के अनुसार, एक व्यक्ति के व्यवहार में कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि वह वस्तुतः कोई एक विशेष व्यवहार करना चाहता है, परंतु वह वैसा न करके ठीक उसके विपरीत ही व्यवहार करते देखा जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति किसी एक व्यक्ति अथवा विषय के प्रति घृणा के स्थान पर प्रेम करने लगता है और प्रेम के स्थान पर घृणा करने लगता है। वस्तुतः यहाँ व्यक्ति की ऐसी विपरीत प्रतिक्रिया से ही उसका अहम् व समायोजन सुरक्षित रहता है। जैसे जब एक कर्मचारी पर उसके बॉस (Boss) की नित अकारण ही डाँट-फटकार पड़ती रहती है, तब ऐसी स्थिति में संबंधित अधीनस्थ कर्मचारी की स्वाभाविक प्रतिक्रिया अपने बॉस को उल्टी कड़ी डाँट-फटकार लगाने की भी होती है, परंतु ऐसे व्यवहार के परिणाम को देखकर प्रायः वह ऐसा न करके ठीक इसके विपरीत बॉस के प्रति विनम्रता का ही व्यवहार करते देखा जाता है और निरंतर स्थिति को सँभालते हुए अपने वास्तविक आवेगों व संवेगों को नियंत्रित व दमित कर लेता है। इस प्रकार प्रतिक्रिया संरचना एक ऐसी रक्षायुक्ति होती है, जिसके अंतर्गत व्यक्ति अपने कष्टकर, संकट-सूचक व क्षति-जनक आवेगों व भावनाओं को अचेतन में धकेल देता है और उनके स्थान पर उनके विपरीत भाव व व्यवहार को प्रदर्शित करने लगता है। इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिक्रिया संरचना की रक्षायुक्ति का व्यक्तित्व के समायोजन में एक विशेष सीमा तक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

४. युक्तीकरण (Rationalization) - जब व्यक्ति अपनी असफलताओं पर पर्दा डालने के प्रयास में वास्तविक कारण के स्थान पर अवास्तविक कारणों के आधार किसी बात का औचित्य सिद्ध करता है तो उस प्रक्रम को युक्तीकरण कहते हैं कोलमैन, (१९७४) ने भी लिखा है कि इस विरचना में व्यक्ति अपने द्वारा किए जाने वाले कार्यों को (तर्कों) के आधार पर उचित ठहराने का प्रयास करता है।

युक्तीकरण की रक्षा-युक्ति से व्यक्ति न केवल अपने अतीत के अल्प व विफल प्रयासों के संबंध में ही बनावटी व दिखावटी तर्क प्रस्तुत करता है, बल्कि अपने वर्तमान निष्फल प्रयासों को भी न्यायोचित ठहराने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ जब एक विद्यार्थी परीक्षा में फेल हो जाता है, तब प्रायः यही कहते सुना जाता है कि पेपर बहुत कठिन थे, उत्तर पुस्तिका के जाँचने में जरूर कुछ गड़बड़ी हुई है, परीक्षाकाल में उसकी तबीयत खराब थी और इन्हीं कारणों से वह परीक्षा में सफल नहीं हो सका, परंतु वह यह कभी स्वीकार नहीं करता कि मैंने परीक्षा में सफल होने के लिए आवश्यक परिश्रम नहीं किया। क्योंकि ऐसा कहने व मानने से उसके अहम् को गहरी चोट लगती है व उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी कम होती है तथा इस आत्मस्वीकृति से उसकी अयोग्यता प्रत्यक्षतः सिद्ध होती है। स्पष्टतः व्यक्ति इस कठोर व कटु स्थिति को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। इस कारण वह अपने अहम् की रक्षा व सामाजिक प्रतिष्ठा को बचाने के लिए अपने निष्फल प्रयासों पर पर्दा डालने का प्रयास करता है व लज्जा की वेदना से बचना चाहता है।

युक्तीकरण के मुख्यतः दो रूप होते हैं--

(i) प्रथम, जिसके अंतर्गत व्यक्ति अपनी पसंद व नापसंद के अधिकार पर अपने व्यवहार का युक्तीकरण करता है, जैसे जब एक विश्वविद्यालय के प्रॉफेसर से यह पूछा जाता है कि वे अपनी योग्यता के आधार पर एक I.A.S. आफिसर क्यों नहीं बने। इस प्रश्न के उत्तर में प्रोफेसर महोदय यह कहते हैं कि उन्हें आफिसर बनना पसंद ही नहीं था, तब उनका ऐसा युक्तीकरण अपनी पसंद व नापसंद के आधार पर कहा जाता है।

(ii) द्वितीय प्रकार के युक्तीकरण के अंतर्गत व्यक्ति अपनी विफलता के लिए बाह्य परिस्थितियों की कठोरता व क्रूरता को दोषी ठहराता है।

इन दो मुख्य रूपों के अतिरिक्त, व्यक्ति की प्रतिक्रिया के आधार पर भी युक्तीकरण के दो और अन्य रूप होते हैं--

(i) अंगूर खट्टे हैं-इसके अनुसार जब एक व्यक्ति को मनपसंद लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, तब वह उसमें अनेक दोष निकालकर अपने अहम् की रक्षा करता है। इस संबंध में लोमड़ी व मीठे अंगलों की कहानी अति लोकप्रिय है। जंगल में एक ऊँचे स्थान पर एक लोमड़ी सुन्दर, पके व मीठे अंगूरों के गुच्छे लटकते देखती है, लोमड़ी का मन अंगूरों को पाने के लिए अति लालयित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो उठता है और उसके लिए वह अंगूरों के गुच्छों को ऊपर की ओर कूद-कूदकर पकड़ने का प्रयास करने लगती है, परंतु बार-बार प्रयास करने पर भी जब वह अंगूर के गुच्छे तक नहीं पहुँच पाती, तब वह अति निराश होकर वहाँ से चल देती है। इसी बीच जब वहाँ पेड़ पर बैठा कौआ, लोमड़ी से पूछता है कि उसने अंगूरों को क्यों छोड़ दिया तब लोमड़ी का यह कहना है कि अंगूर खट्टे थे, इस लिए उनका पाना तथा खाना पसंद नहीं किया। यहाँ लोमड़ी द्वारा प्रस्तुत यह तर्क स्पष्टतः कितना ऊपरी तथा छिछला है, इसको सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। इसी कहानी के संदर्भ में जब व्यक्ति अपने मन-पसंद लक्ष्य के प्राप्त न होने पर अपने अनेक तर्क प्रस्तुत करते देखा जा सकता है, तब ऐसे युक्तीकरण को अंगूर खट्टे हैं, की संज्ञा दी जाती है।

(ii) नीबू मीठा होता है-वास्तव में, नीबू खट्टा होता है, परंतु व्यक्ति के पास इसके अतिरिक्त जब कोई अन्य विकल्प नहीं होता, तब वह विवश होकर खट्टे नीबू को ही मीठा कहने लगता है। ऐसे ही जब निर्धन व्यक्ति अपनी सूखी रोटी में ही असली स्वाद की बातें करता है, और अपनी झोंपड़ी में सुख और शांति का अधिक गुण गान करते देखा जाता है, तथा सारे जीवन को ही उच्च श्रेणी का सिद्ध करते देखा जाता है, तब उसके ऐसे युक्तीकरण का स्वरूप नीबू मीठा होता है, के युक्तीकरण के समरूप ही होता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि युक्तीकरण की रक्षायुक्ति का व्यक्ति के जीवन में समायोजन के प्रक्रम में महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। इससे व्यक्ति जीवन की अनेक कठोरताओं व कटुताओं को सहनशील बना लेता है व व्यर्थ की अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त होने का प्रयास करता है और अन्ततोगत्वा अपने अहम् व सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाए रखने में सफल रहता है।

५. विस्थापन(Displacement) - विस्थापन वह मानसिक विरचना है जिसके द्वारा व्यक्ति को द्वन्द्व को नियंत्रित या कम करने में सहायता मिलती है तथा इसके साथ-साथ प्रेरक या इच्छा की किसी न किसी रूप में पूर्ति भी होती है। हिलगार्ड (१९७५) के कहने के अनुसार विस्थापन की दशा में चिंता, द्वन्द्व तथा अन्य तनावपरक दशाओं में संतुलन स्थापित करने में सहायता मिलती है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है कि मानसिक विरचनाओं से समस्याओं का अस्थाई समाधान ही मिल पाता है और व्यक्ति का दृष्टिकोण अवास्तविक हो जाता है। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह सदैव वास्तविकता को महत्त्व दे और आवश्यकतानुसार अपने व्यवहार में सुधार करे।

६. बौद्धिककरण (Inlellectualization) -मानसिक विरचना का यह वह प्रक्रम है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति दुःखद, भयपूर्ण या कष्टकर परिस्थितियों के प्रति विमुखता या तटस्थता की भावना विकसित करता है, ताकि उसका व्यवहार या कार्य संबंधित संवेगात्मक दशाओं से प्रभावित न हो सके। डाक्टरों में इस विरचना को देखा जा सकता है। वे चीड़फाड़ करते समय रोगियों को कष्ट में देखकर भी कष्ट का चेतन अनुभव नहीं करते हैं उनके लिए ऐसा करना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि वे भी भावुक हो जाएँ तो शल्यक्रिया में बाधा पड़ सकती है (Mahl 1971, Coleman 1975)।

बौद्धिककरण की रक्षायुक्ति का एक दूसरा रूप उस स्थिति में भी देखने में आता है, जब व्यक्ति दो विरोधी तथा असंगत मूल्यों का बौद्धिक स्तर पर युक्तीकरण प्रस्तुत करते देखा जाता है। ऐसी रक्षायुक्ति प्रायः उस स्थिति में भी देखने में आती है, जबकि एक व्यापारी भ्रष्ट ढंग से धन कमाकर उसमें से कुछ अंश मंदिर के निर्माण के लिए दान कर देता है। ऐसी रक्षायुक्ति से व्यक्ति भ्रष्ट ढंग से धन कमाने के लिए अपनी अंतरात्मा की धिक्कार से बचने का कुशल प्रयास करते देखा जाता है, तथा इससे अपने अहम् की सुरक्षा करते देखा जाता है।

७. क्षतिपूर्ति- यदि कोई व्यक्ति किसी लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल हो जाता है तो उसमें हीन भावना विकसित हो जाती है और उसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए किसी अन्य लक्ष्य को प्राप्त करके संतुष्टि चाहता है। रच, १९६९ के मतानुसार, क्षतिपूर्ति एक ऐसा प्रयास है, जिसमें किसी कमी या अवांछित विशेषता को छिपाकर वांछित गुणों के विकास पर बल दिया जाता है। उदाहरणार्थ, शारीरिक सौंदर्य में कमी होने पर व्यक्ति एक अच्छा वार्ताकार बनकर सामाजिक प्रशंसा अर्जित कर सकता है परंतु असुरक्षा एवं हीनता की भावना अत्यधिक हो जाने पर व्यक्ति क्षतिपूर्ति में असफल हो जाता है।

८. तदात्मीकरण (Identification) - फ्रायड, १९४४ ने समायोजन स्थापित करने में तदात्मीकरण का विशेष महत्त्व बतलाया है। इस मानसिक विरचना के आधार पर व्यक्ति किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदर्श की विशेषताओं के अनुरूप अपने अंदर विशेषताएँ विकसित करने का प्रयास करता है, जैसे बच्चे अपने माता-पिता या अन्य सदस्यों के व्यवहारों की नकल करके उनके जैसा व्यवहार करने का प्रयास करते हैं। आजकल युवक एवं युवतियाँ फिल्मी कलाकारों के हावभावों की नकल करते देखे जा रहे हैं। इसी प्रकार विभिन्न दलों के कार्यकर्ता अपने दलों के अध्यक्षों जैसा व्यवहार करते देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि तदात्मीकरण अपनी कमजोरी छिपाने का एक तरह का प्रयास है कभी-कभी व्यक्ति संभावित कष्ट से बचने के लिए उस व्यक्ति के अनुसार कार्य करने लगता है जो उसे कष्ट पहुँचाने में सक्षम है Bettetheim 1943। यहाँ तदात्मीकरण का रूप एक प्रकार से अनुकरण का ही होता है। अतः यहाँ अनुकरण तथा तदात्मीकरण के अंतर को स्पष्ट करना भी आवश्यक है।

अनुकरण तथा तदात्मीकरण में अंतर -

अनुकरण का रूप प्रायः स्थूल व भौतिक होता है, जैसे जब एक बालक अन्य बालकों को ताली बजाते देखकर स्वयं भी ताली बजाने लगता है, तब व्यवहार का ऐसा रूप अनुकरण कहलाता है, परंतु जब बालक या व्यक्ति अपना व्यवहार किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के व्यवहार के अनुकूल उस जैसी प्रतिष्ठा, प्रभाव व सम्मान पाने के लिए करता है, तब उसके व्यवहार में तदात्मीकरण की मनोरचना देखने में आती है। दूसरे, अनुकरण की प्रक्रिया में उद्दीपक विषय-वस्तु या घटना का होना एक प्रकार से आवश्यक होता है, जबकि तदात्मीकरण के लिए व्यक्ति के सम्मुख संबंधित व्यक्ति की उपस्थिति प्रायः इतनी आवश्यक नहीं होती। तीसरे, अनुकरण एक सरल, शारीरिक क्रिया है, जबकि तदात्मीकरण एक अपेक्षाकृत जटिल मानसिक क्रिया है, इसके अतिरिक्त अनुकरण अधिकांशतः एक चेतन क्रिया होती है, जबकि तदात्मीकरण का रूप प्रायः अचेतन प्रक्रिया का होता है।

विस्तृत रूप से तदात्मीकरण की रक्षायुक्ति न केवल व्यक्तित्व के अहम् के विस्तार तथा रक्षा में ही सहायक होती है, बल्कि व्यक्ति की दमित प्रबल इच्छाओं की पूर्ति का साधन भी होती है। उदाहरणार्थ जब एक विद्यार्थी में एक प्रसिद्ध डाक्टर अथवा प्रशासनिक अधिकारी बनने की इच्छा रहती है, परंतु कुछ कारणवश उसकी ये इच्छाएँ उस समय पूरी नहीं होने पातीं, तब वह अपनी इन दमित इच्छाओं की संतुष्टि बड़े होकर एक पिता के रूप में अपने एक लड़के को डाक्टर तथा दूसरे को प्रशसानिक अधिकारी बनाने में देखने में आती है। ऐसे ही, एक व्यक्ति स्वयं अशिक्षित रहने पर अपनी सन्तान को उच्च स्तर की शिक्षा-दीक्षा देकर अपने व्यक्तित्व की शिक्षा के दमित अभाव की पूर्ति में तदात्मीकरण की रक्षायुक्ति ही अपनाते देखा जाता है।

९. उदात्तीकरण-उदात्तीकरण से तात्पर्य उस मानसिक विरचना से है, जिसके द्वारा व्यक्ति किसी लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल होने पर किसी दूसरे लक्ष्य का चयन करके अपनी इच्छा पूर्ति करने का प्रयास करता है। यद्यपि नवीन लक्ष्य से उसे उतनी संतुष्टि नहीं मिलती है जितनी की मूल लक्ष्य से संभावित थी फिर भी ऐसा करने से उसकी समस्या का समाधान हो जाता है और समायोजन स्थापित करने में भी सहायता मिलती है। जैसे आक्रामकता के स्थान पर पहलवानी, मुक्केबाजी या खेलकूद में भाग लेना। इससे मिलती-जुलती एक और विरचना है जिसे प्रतिस्थापन कहते हैं इसमें भी व्यक्ति मूल लक्ष्य की जगह नया लक्ष्य चुनकर अपना काम चलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org